नेपामूल भारतीय : दिशा और अस्मिता की तलाश में

प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा*

नेपामूल भारतीय नेपाली मूल के भारतीय हैं, जो कई पीढ़ियों से भारत में निवास कर रहे हैं और भारतीय जीवनधारा में पूरी तरह शामिल हो चुके हैं। विश्व का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र, नेपाल, आज पूर्णरूपेण सार्वभौम राष्ट्र है। परन्तु प्राचीनकाल में नेपाल और भारत पृथक नहीं थे। उदाहरणस्वरूप सम्राट अशोक और भगवान बुद्ध के काल में मगध और नेपाल की सीमाएँ ऐसी नहीं थीं। इसी प्रकार नेपाल के मल्लवंशी राजाओं और मिथिला नरेशों ने एक दूसरे के क्षेत्रों पर समय-समय पर राज्य किया था। प्राचीन काल में नेपाली और भारतीय तीर्थाटन और व्यापार के लिए एक दूसरे के क्षेत्र में लम्बी यात्राएँ करते थे। परन्तु बड़े पैमाने पर नेपालियों का रोजी-रोटी की खोज में भारत आना और बड़ी संख्या में बस जाना, एक नई शुरुआत है।

बात यों हुई कि मुगल साम्राज्य की अवनति के साथ ही उत्तरी भारत में अंग्रेजों का दबदबा बढ़ने लगा। प्रायः उसी समय शाह वंशी गोरखा नरेश नेपाल में अपनी स्थिति मजबूत करने में लगे थे। स्वाभाविक है कि इन दो महत्वाकांक्षी और सक्षम राज्यों में वर्चस्व की लड़ाई ठनी इसमें नेपालियों की पराजय हुई। 1815 की सन्धि के अनुसार नेपाल को नेपाल से बाहर की जीती हुई भूमि अंग्रेजों के लिए खाली करनी पड़ी और वर्तमान नेपाल की सीमा का निर्धारण हुआ। इस लड़ाई के उपरान्त अंग्रेजों ने अनुभव किया कि आधुनिकता से परे सीधे-सादे नेपाली पहाड़ी और जंगली युद्ध में विशेषकर असरदार हैं। इसी समय अपनी 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत अंग्रेजों ने कुछ समुदायों के सन्दर्भ में 'युद्धक प्रजाति' (marshal race) की अवधारणा प्रचारित की। इसके अनुसार गुरखे, सिक्ख, मराठे, जाट आदि को युद्धक प्रजाति बताया गया और अपेक्षाकृत शिक्षित और राजनीति से परिचित समुदायों को अंग्रेजी फौज से अलग रखा गया। कालान्तर में गोरखा सिपाहियों की भरती के लिए शिमला, देहरादून, गोरखपुर, लहेरिया सराय, दार्जिलिंग और शिलाँग में फौजी भरती के दफ्तर खोले गए।

* प्रोफेसर ए. सी. सिन्हा, भूतपूर्व डीन, समाजशास्त्र संकुल, उत्तर-पूर्वी पार्वत्य विश्वविद्यालय शिलाँग, 793022; वर्तमान सम्पर्क : डी 7/7331, वसन्तकुंज, नई दिल्ली-110070

राजतन्त्र की अनुदारता और कुशासन के कारण बहुत सारे नेपाली जवान अंग्रेजी फौज में शामिल होने लगे। जो फौज में नहीं लिये जा सकते थे वे कुली का काम करके अपनी जीविका अर्जन करने भारत आने लगे। फिर तो खेतिहर, चरवाहे, दस्तकार भी भारतमुखी हो चले। जिन्हें कुछ नहीं मिलता, वे पहरेदार या खानसामा बनकर काम करने लगे। इस प्रकार भारतीय मानस में नेपाली का मतलब गोरखा सिपाही, गोरखा पहरेदार या कुली रह गया। इनकी आमदनी इतनी कम होती थी कि उसमें से बचाकर अपनें स्वजनों के पास भेजना बहुत मुश्किल था। फिर आवागमन के साधनविहीन नेपाल की यात्रा कठिन और लम्बी हुआ करती थी। फलस्वरूप भारत में कार्यरत नेपाली धीरे-धीरे भारत में ही बसने लगे। इस प्रकार भारतीय नगरों, सिक्किम, दार्जिलिंग और पूर्वोत्तर के राज्यों में इनकी आबादी बढ़ने लगी।

नेपामूल भारतीय : एक परिचय

नेपामूल भारतीयों को समझने के लिए यह जरूरी है कि नेपाली समाज के विषय में जाना जाए। नेपाल दुनिया का एकमात्र हिन्दू राष्ट्र है; परन्तु वहाँ बौद्ध, ईसाई और मुसलमान भी रहते हैं। नेपाली नेपाल की राष्ट्रभाषा है; परन्तु नेपाली के अतिरिक्त बहुत सारी जनजातियाँ अपनी भाषाएँ बोलती हैं। उसी प्रकार नेपाल की तराई में हिन्दी के अतिरिक्त मैथिली, भोजपुरी और अवधी बोली जाती है। नेपाल में हिन्दू धर्मशास्त्रीय कानून लागू हैं जिनमें हिन्दू वर्ण व्यवस्था मानी जाती है। परन्तु सभी नेपाली मुख्यतः दो सामाजिक समूहों में विभक्त हैं : तागाधारी (द्विज) और मतवाली (वे समुदाय, जिनके शराब पीने की मनाही नहीं है)। शारीरिक रूप से नेपाली जनता अत्यन्त ही विभिन्नता भरी है। जैसे बिल्कुल गौरवर्ण और तीखी नाक-नक्शवाले, भारी-भरकम सिर और शरीरवाले पीतवर्णीय और श्यामवर्णीय ठिगने थारू और धाँगड़।

एक दूसरे प्रकार से नेपाली समाज को तीन सामाजिक धड़ों में बाँटा जा सकता है। प्रथमतः गोरखाली समूह, जो अपने को भारत के महाराष्ट्र और राजस्थान से आनेवालों की सन्तति मानता है और भारतीय हिन्दू समाज के समान वर्णव्यवस्था और विभिन्न जातियों में बँटा हुआ है। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और विभिन्न अछूत समझी जानेवाली जातियाँ पाई जाती हैं। द्वितीय, हिन्दू और बौद्ध मतावलम्बी नेवार समूह के लोग, जो सक्षम, सुसंस्कृत और व्यवसाय कुशल होते हैं। इनके बीच भी विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। ये मुख्यतः काठमाण्डु घाटी में बसे हुए हैं। तृतीय, किरात समूह की जनजातियाँ : राई, मगर, गुरूंग, लिम्बू आदि। इनकी अपनी भाषाएँ हैं और ये अपने क्षेत्र विशेष में अपने परम्परागत नियमों के अनुसार अपनी जनजातीय प्रशासन में लिप्त हैं। स्मरणीय है कि राजतंत्रीय नीति : "राजा, राष्ट्र, एक भाषा, एक

भेष" के अनुसार सबों को नेपाली भाषा का ज्ञान और विशेष आयोजनों में स्वीकृत नेपाली राष्ट्रीय पोशाक धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार नेवार और किरात समूह के नेपाली बहुभाषी होते हैं।

'लाहुरे' और जाँबाज गोरखे

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में नेपाली लड़के आजीविका की तलाश में नेपाल के बाहरी सैन्य बलों में शामिल होने लगे। महाराजा रणजीत सिंह के उत्थान के साथ काफी नेपाली सिक्ख सेना में भर्त्ती होने के लिए सिक्खों की राजधानी लाहौर जाने लगे। उन दिनों फौजियों की तनख्वाह गाहे-ब-गाहे ही मिलती थी, परन्तु पराजित राज्यों को लूटने की इजाजत होती थी। इस प्रकार की कमाई कर नेपाल के पश्चिम दिशा से आनेवाले सभी फौजियों को 'लाहुरे' (लाहौर से लौटे वीर-बाँकुरे) कहा जाने लगा। कालान्तर में 'लाहुरे' नेपाल से बाहर फौजी नौकरी करनेवाले सिपाहियों का पर्यायवाची बन गया।

1814-15 की अंग्रेजों के साथ लड़ी गई लड़ाई में नेपालियों ने अपने सीमित साधनों के बावजूद अंग्रेजी फौज के छक्के छुड़ा दिए थे। नेपाली अधिकारी वर्ग की मंशा के विरुद्ध अंग्रेजों ने अपनी फौज में गौरखा सैनिकों की बहाली आरम्भ की। 1857 के सिपाही विद्रोह को कुचलने के लिए अंग्रेजों के पक्ष में नेपाली प्रधानमन्त्री राणा जंगबहादुर ने अपनी सेना के साथ गोरखपुर में डेरा डाला। इसके उपरान्त बड़े पैमाने पर नेपाली गोरखे अंग्रेजी सेना में और भारतीय पुलिस सेवा में शामिल होने लगे। अंग्रेजों ने खासकर दुर्गम पहाड़ी और पिछड़े क्षेत्रों के निवासियों—राई, मगर, गुरूंग, लिम्बू—को भारतीय सेना में प्रमुखता दी। सिपाहियों की अपेक्षाकृत आदिम क्रूरता और पाशविक हिंसा को उन्होंने युद्ध कौशल का नाम दिया और इनकी निरक्षरता और अन्धभक्ति अंग्रेजों को अत्यन्त प्रिय लगी।

1860 और 1940 के बीच सर्वाधिक गुरखे अंग्रेजी सेना में भर्ती हुए। सेवानिवृत्त होने पर फौजी छावनियों के प्रायः कुछ गोरखे भारत में बस जाने लगे। फिर तो सेवानिवृत्त गोरखों को अंग्रेजों ने पूर्वोत्तर भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में बसाना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति बन गई थी कि अंग्रेज फौजी अफसर मान बैठा था कि गोरखा सिपाही उनके अलावा किसी दूसरी जाति के अफसरों के अधीन काम ही नहीं करेंगे। 1947 में भारतीय स्वतंत्रता की स्थिति में गोरखा सैनिकों का भारत और ब्रिटेन में विभाजन होना सुनिश्चित था। परन्तु राय पूछे जाने पर अधिकतर गौरखा फौजियों ने भारतीय फौज में भारतीय अफसरों के साथ काम करना चाहा और अन्त में 10 में से 6 गोरखा रेजीमेण्ट भारतीय फौज का हिस्सा बनी रही।

अंग्रेजी भारत में नेपालियों के आ बसने के कारण

नेपालियों के लिए भारत बसने के दो प्रकार के कारण थे : नेपाल से दुराव जन्य और भारत के प्रति आकर्षणजन्य। प्रथमतः नेपाली राजतंत्र निरंकुश और अत्याचारी था। सत्ता परिवर्तन के साथ बड़े पैमाने पर खून-खराबा होता था। नेपाल का उत्तरी भाग बर्फीला और दुर्गम पहाड़ों से भरे होने के कारण खेती के अनुपयुक्त था। घाटी और नदी तट पर पैदा होनेवाले धान्य को अधिकारी वर्ग और सामन्त कर स्वरूप छीन लेते थे। दूसरी तरफ यूरोप के निवासियों के सम्पर्क में आने पर नई दुनियाँ की नई फसलें—मकई, आलू, मूली, टमाटर, शिमला मिर्च, तम्बाकू आदि—ऊसर पहाड़ी जमीन पर पैदा होने लगे। इन नए प्रकार के खाद्य पदार्थों से नेपाल की निर्धन जनता अपेक्षाकृत दीर्घायु और स्वस्थ रहने लगी। कालान्तर में इस प्रकार भोजन में बदलाव के चलते आबादी बढ़ी, जिसका नेपाली धरती पर भरण-पोषण कठिन होने लगा।

भारत की तरफ नेपालियों को आकर्षित करनेवाली कई प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। पहली, भारतीय अंग्रेजी गोरखा फौज की नौकरी, तनख्वाह, कार्यविधियाँ, रहन-सहन, सेवानिवृत्ति की शर्तें आदि नेपाली जीवन को स्थायित्व प्रदान करती थीं। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थवश गोरखों को एक 'युद्धक प्रजाति' कहकर एक नया सम्मान दिया। धन, स्वास्थ्य, रहन-सहन और पोशाक आदि ने नेपाली समाज में लाहुरों का सम्मान और बढ़ा दिया। फिर फौज से सेवानिवृत्त होकर या तो वे भारत में ही फौजी छावनियों के आस-पास बस जाते थे या पेंशन प्राप्तकर नेपाल में प्रतिष्ठित जिन्दगी बिताते थे। अंग्रेजी स्वामिभक्ति के फलस्वरूप वफादार फौजियों के बेटों को फौज की भरती में तरजीह दी जाती थी।

दूसरा, नेपाल युद्ध के बाद भारत में ऐसी स्थितियाँ बनती गई कि नेपालियों का पूर्वोत्तर हिमालयी क्षेत्र में प्रसार बढ़ने लगा। 1825-26 में असम अंग्रेजों के प्रभुत्व में आया। 1835 में दार्जिलिंग की पहाड़ियाँ अंग्रेजों के हाथ लगीं। 1851 से 1888 के बीच सिक्किम में अंग्रेजी दबदबा स्थापित हुआ। 1865 में भूटान की पराजय के बाद कालिम्पोंग से लेकर असम के दरंग जिले तक दुआर (डुअर्स) की भूमि अंग्रेजों के हाथ लगी। इन सभी क्षेत्रों में जंगल साफ करने, चाय बगानों में काम करने और शांति स्थापित करने में नेपालियों ने मुख्य भूमिका निभायी। इसकी परिणति 1903-04 की तिब्बत युद्ध में हुई। क्लाइड ह्वाइट और हर्वट रीजले ऐसे अंग्रेज प्रशासक हुए, जिन्होंने पूर्वी हिमालय के स्थायित्व के लिए इन क्षेत्रों में नेपालियों की बस्ती आवश्यक समझी और इस पर अमल भी किया।

तीसरा, असम राज्य के शिंगफो सरदार ने अंग्रेजों को असम में चाय की अवस्थिति की सूचना दी। आनन-फानन में पूरी अंग्रेजी हुकूमत चाय की पैदावार और

व्यापार के पीछे पड़ गई। 1838 में असम कम्पनी चाय पैदाकर वेचनेवाली दुनियाँ की पहली ज्वाइण्ट-स्टाक कम्पनी बनी और उसने संगठित रूप में चाय बगानों की नींव डाली। फिर तो देखते-देखते ब्रह्मपुत्र घाटी, कच्छार घाटी, दुआर्स और दार्जिलिंग में चाय वगानों का जाल विछ गया। चाय बगानों की स्थापना के लिए जंगलों को साफ करना, वगान के लिए पत्थर भरी भूमि को समतल बनाना, बगान लगाना आवश्यक था। और फिर चाय के उत्पादन की प्रक्रिया में सस्ते और मैहनती मजदूरों की काफी जरूरत होती है। नेपाली समुदाय दार्जिलिंग से पूरव की तरफ इन बगानों की तरफ आकर्षित हुआ।

चौथा, अंग्रेजों ने उद्योगों और नगरों को इमारती लकड़ी की विधिवत आपूर्ति के लिए वन आरक्षण और वन प्रशासन की नीति 1860 ई. दशक में स्वीकार की। इसी समय रेलवे लाइन डाली जा रही थी और चाय के निर्यात में लकड़ी की सस्ती और हल्की पेटियों की आवश्यकता थी। जंगलों से इमारती लकड़ी के निष्कासन, जंगल की सुरक्षा और देखभाल के लिए जंगलों से परिचित और निर्भीक परन्तु सस्ते कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता नेपालियों ने पूरी की। खासकर नेपाली आराकशियों को लकड़ी काटने और चीरने का काम मिलने लगा।

अन्त में, आवागमन के साधन विहिन नेपाल की तुलना में अंग्रेजी भारत में रेलवे, पक्की सड़कें और जल साधनों का विकास हुआ, जिससे बंगाल, असम और बर्मा के दुर्गम क्षेत्रों की यात्रा शीघ्र, सुगम, सस्ती और सुरक्षित हो गई। भारत के नगर, कल-कारखाने, रेल, चाय बगान, फौजी छावनियाँ आदि नेपालियों के आकर्षण के केन्द्र बनते गए। प्रत्येक नेपाली के दिमाग में बात बैठ गई कि भारतीय नगरों में उन्हें कोई-न-कोई काम मिल ही जाएगा, जिससे वे अपनी जीविका चला सकेंगे।

नेपामूल आबाद क्षेत्रों का प्रकार और प्रसार

यों तो नेपामुल भारतीय देश के प्रायः सभी क्षेत्रों में बिखरे पाए जाएँगे; परन्तु मूलतः ये पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों के अभ्यस्त होते हैं। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के पहले से वे हिमाचल और उत्तरांचल से परिचित रहे हैं। सिक्किम और भूटान नेपाल के पूर्वी छोर के पड़ोसी रहे हैं। अंग्रेजों द्वारा असम के अधिग्रहण करने के बाद अपेक्षाकृत कम आबादीवाले पूर्वोत्तर भारत की पहाड़ियों की तरफ इनका रूझान हुआ। देखते-देखते उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के पाँच दशकों में नेपामूल भारतीयों ने दार्जिलिंग और सिक्किम का पूर्णरूपेण नेपालीकरण कर दिया। अगले पचास वर्षों में भूटान, असम, अरूणाचल, नागालैण्ड, मणिपुर, मिजोरम होते हुए आराकान (बर्मा) पहाड़ियों तक इनका प्रसार हो गया। इन क्षेत्रों में इनकी आबादी कहीं सघन तो कहीं छिट-पुट रही; परन्तु स्थानीय जनजातियों की संख्या के अनुपात में नेपामूल बस्तियाँ अपनी अलग छाप छोड़ती हैं।

सेवानिवृत्त सैनिकों की पुर्नवास की नौ आबादियाँ—पूर्वोत्तर राज्यों में एक नीति के अनुसार अंग्रेजों के जमाने से फौजी छावनियों के आस-पास नेपालियों को बसाया गया था। कालान्तर में सामरिक रूप से दुर्गम क्षेत्रों में सेना के सेवानिवृत्त सैनिकों को सुरक्षा की दृष्टि से बसाया गया। ये बस्तियाँ अनुशासित, परिश्रमी और पेंशनयाफ्ता फौजियों की देख-रेख में शीघ्र सम्पन्न गाँवों में बदलने लगीं। सेना से मिलनेवाली सुविधाओं के अलावा पशुपालन, दूध-दही का व्यापार, शाक-सब्जी की खेती कर इन ग्रामीणों ने अपने गाँवों को अपेक्षाकृत अविकसित जनजातीय क्षेत्रों में खुशहाल बना डाला। और यहीं से इनकी समस्याओं का आरम्भ होता है।

ज्ञातव्य हो कि इन आबादियों के क्षेत्र नागा, मिजो, मणिपुरी या उल्फा प्रभावित विद्रोहियों के परम्परागत कार्यक्षेत्र रहे हैं। स्वाभाविक है कि इन क्षेत्रों में विद्रोहियों की टोह में सेना का आवागमन होगा। गाहे-ब-गाहे दोनों के बीच भिड़न्त भी होगी। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में प्रायः नेपामूल बस्तियाँ फँस जाती हैं। भूतपूर्व सैनिक होने के कारण उनका झुकाव सेना की तरफ होना उचित भी है। दूसरी तरफ, जनजातियों के बीच रहकर उनके विरुद्ध कदम उठाना कहाँ तक चतुराई का काम है? मणिपुर, नागालैण्ड, असम और मेघालय में कई बस्तियाँ ऐसी सन्देहास्पद स्थितियों में प्रायः जलाई गईं। ऐसी आगजनी से होनेवाली आर्थिक हानि और मानवीय पीड़ा की भरपाई प्रायः नहीं हो पाती है। क्योंकि आबाद भूतपूर्व सैनिकों की सहायता से अपेक्षाकृत कम कर पाती है। दूसरी तरफ, स्थानीय प्रशासन नेपामूल भारतीयों के प्रति उदासीन पाया जाता है।

पशुपालक, चरवाहे और खेतीहर—ये प्रायः अंग्रेजों द्वारा अयुद्धक प्रजाति माने गए ब्राह्मण या अन्य जातियों के होते हैं, जिन्हें सेना के लिए अनुपयुक्त माना गया। खासकर शर्मा, जोशी या उपाध्याय उपाधिवाले ब्राह्मण गोपालन और पण्डिताई एक साथ सम्पन्न करते हैं। कालान्तर में ऊसर, पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में गाय, बैल, भैंस, भेड़-बकरी चराने का काम करते हैं। असम राज्य का वन विभाग आर्थिक लाभ के लिए जंगलों का चारागाह के रूप में बन्दोबस्त करता था तथा प्रति पशु कौड़ी उगाहता था। 1926 में नीति बदली और यह आमदनी वन विभाग के स्थान पर भूराजस्व विभाग ने वसूलना आरम्भ किया। जंगलों में मजदूरों के अभाव में नियत समय पर वन विभाग के लिए मजदूरी करने के लिए वनविभाग ने 'वनग्रामों' को बसाना शुरू किया। इन मान्यता प्राप्त ग्रामीणों को खेती के लिए कुछ जमीन और कुछ संख्या में मुफ्त पालतू पशु रखने की इजाजत होती थी। नेपामूल भारतीयों ने इस व्यवस्था का लाभ उठाया। आज का काजीरंगा अमभारण्य किसी जमाने में नेपामूल भारतीयों का चारागाह हुआ करता था।

पशुधन, शाक-सब्जी, दूध-दही के व्यापार और अन्य प्रकार से धन कमाकर नेपामूल भारतीयों ने भूमि में निवेश किया। इस प्रकार कल के टुटपूँजिये चरवाहे

अपेक्षाकृत अनुपजाऊ जमीन पर आ बसे और चरवाही के साथ-साथ खेती भी करने लगे। अपनी मेहनत, मितव्ययिता और सामाजिक भाईचारे के बल पर इन लोगों ने ऊसर-बंजर पहाड़ी जमीन को हरे-भरे खेतीहर गाँवों में बदल डाला। और बस यहीं से इनकी समस्याएँ शुरू होती हैं। परम्परागत विधि के मुताबिक जंगली जमीन जनजातियों की मानी जाती है, जिसे गैर-जनजातियों को नहीं आबंटित किया जा सकता। इस प्रकार नेपामूल भारतीयों के जमीन सम्बन्धी दस्तावेज अनदेखे कर उन्हें बेदखल किया जाने लगा। प्रत्येक नेपामूल भारतीय को सुविधानुसार स्थानीय जनजातीय नेताओं ने नेपाली प्रवासी करार देकर उनकी जमीन, पशुधन, खेत-खलिहान और घर-द्वार हड़पना शुरू किया। ऐसी घटनाएँ असम, मणिपुर और मेघालय में अकसर घटीं।

दस्तकार, कारीगर और अकुशल मजदूर—पूर्वोत्तर भारत के प्रायः सभी छोटे-बड़े शहरों में और जयन्तिया पहाड़ियों की कोयला खदानों में बढ़ाई, लुहार, ड्राइवर, खलासी, मिस्त्री, कुली, पहरेदार, रसोइये, खानसामा, माली, चपरासी, कँजड़े, फेरीवाले और इसी प्रकार के दूसरे काम में हजारों नेपामूल भारतीय संलग्न हैं। ये बहुभाषी होते हैं। एकाधिक धर्मों को मानते हैं। इनके दोस्त और दुश्मन अन्य भाषाभाषी और जातियों या जनजातियों के होते हैं। इनकी पहचान सस्ती सेवा के आधार पर होती है, न कि नेपामूल भारतीय के रूप में। प्रायः प्रत्येक समाज में इनके पक्षधर मिल जाते हैं और संकट की घड़ी में इनकी मदद करते हैं।

उभरते हुए सफेदपोश युवक—यह नेपामुल भारतीयों का वह तबका है, जो जन्म से ही बहुभाषी होता है। अपने पड़ोस के युवकों के साथ बड़े हुए, खेले, पढ़े-लिखे और भविष्य के सपने देखे, परन्तु वयस्क होते हैं समझने को बाध्य हुए कि व्यवस्था सबके लिए समान नहीं होती। शिक्षा, कौशल, योग्यता और स्वास्थ्य के बावजूद इन्हें सरकारी नौकरियों में नहीं लिया जाता। अपने पूर्वजों के विपरीत सेना की नौकरी भी अब उन्हें नहीं मिलती। सरकारी नौकरियों में जनजातियों को या 'मिट्टी के सपूतों' को प्रश्रय मिलता है। अगर ये उम्मीदवार होते हैं तो इन्हें नेपाली बताकर टरका दिया जाता है; जिस पर इन्हें स्वाभाविक झुंझलाहट होती है, क्योंकि इनके लिए नेपाली होना एक मिथक है। इन्होंने नेपाल नहीं देखा; वहाँ कभी गए नहीं; वहाँ इन्हें कोई नहीं जानता और ये भी वहाँ के किसी को नहीं जानते। बार-बार नेपाली करार दिए जाने पर इनमें एक प्रकार की कुण्ठा पैदा होती है। यों तो भारत के प्रत्येक नगर में नेपामूल भारतीय पाए जाते हैं, परन्तु इनकी संख्या दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, बंगलोर, पटना, बनारस, लखनऊ, शिमला आदि नगरों में काफी पाई जाती है। इसी प्रकार पश्चिम में जम्मू, हिमाचल और उत्तरांचल में भी ये पर्याप्त संख्या में बसे पाए जाते हैं। परन्तु, सिक्किम, दार्जिलिंग, उत्तरी बंगाल और पूर्वोत्तर के प्रायः सभी राज्यों में नेपामूल संख्या को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। एक अनुमान के मुताबिक

नेपाल से परे पूर्वी हिमालयी क्षेत्र में 15 साल पहले इनकी आबादी 30-35 लाख आँकी गई थी। निश्चित रूप से आज यह संख्या पचास लाख के करीब होगी।

नेपामूल भारतीयों की कुण्ठाग्रस्त प्रतिक्रिया

दार्जिलिंग से लेकर मिजोरम तक नेपामूल भारतीयों में अपनी स्थिति के प्रति क्षोभ, आक्रोश और असमर्थता बनी हुई है। उनकी समझ में नहीं आता कि एक भारतीय होने के नाते भारत में कैसे वे एक सम्मानित जीवन जीएँ। उनके पास आज कोई सर्वमान्य, अनुभवी और दूरदर्शी नेता नहीं है, जो उनका मार्गदर्शन कर सके और जिसे भारतीय राजनेताओं में प्रतिष्ठा प्राप्त हो। फलस्वरूप उनके नाम पर स्वार्थी, अवसरवादी और अनुभवहीन नेता अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। नेपामूल युवक प्रतिक्रियास्वरूप कभी भारत-नेपाल सन्धि की प्रतियाँ जलाते हैं, तो कभी गोरखा सिपाहियों की अतिरंजित कहानियाँ कहते हैं या पूरे हिमालयी क्षेत्र में एक बार फिर 'बृहत्तर नेपाल' के सपने देखते हैं। ये सारी प्रतिक्रियाएँ आवेश-वश की जाती हैं, क्योंकि इनके पीछे कोई संगठनात्मक, वैचारिक या योजनाबद्ध प्रयास नहीं होता। फलस्वरूप ये प्रतिक्रियाएँ सनसनी फैलाकर समाप्त हो जाती हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आज नेपामुल भारतीयों की स्थिति चिन्ताजनक है। पीढ़ियों से भारतीय होने के बावजूद उन्हें अक्सर नेपाली नागरिक समझा जाता है। बात यों है कि भारतीय जनमानस में नेपाल एकमात्र हिन्दू राष्ट्र होने के बावजूद एक विदेशी राष्ट्र है। नेपामुल भारतीय इस दुविधाभरी मनःस्थिति के शिकार होते हैं। स्मरणीय है कि भारत एक बहुभाषी, बहुधार्मिक और बहु-सांस्कृतिक महासंघ है, जिसमें विभिन्न इकाइयों के बीच एक अघोषित प्रतियोगिता चलती रहती है। नेपामूल भारतीयों को इस अघोषित स्वस्थ प्रतियोगिता में आगे बढ़कर भाग लेना चाहिए, न कि इससे दरकिनार हो अपने भाग्य को कोसना चाहिए। अच्छा हो कि भूटानी नेपाली मूल के नागरिकों (ल्होत् शाम्पा) की भाँति नेपालियों से अपने को अलग करते हुए नेपामुल भारतीय एक सर्वमान्य संज्ञा अपना लें। इससे इनकी समस्याओं के समाधान खोजने में कुछ हद तक सहायता मिलेगी और उनकी अस्मिता की तस्वीर भी कुछ हद तक साफ होगी।